पिंजरा

जयश्री रॉय

पिंजरा

चूल्हे में थोड़ी-सी आँच बचाकर उसने बाकी लकड़ियाँ बुझा दी थी। फिर, धुआँती आँखें पोंछती हुई रसोई से निकल आई थी - राणा आए तो गर्म फुलके सेंक लेगी। मगर वह

आएगा कब... दोपहर की धूप छज्जे से सरककर अब पिछली दीवार से नीचे उतरने लगी थी, सूरज अपनी ढलान पर था। गहरी साँस लेकर वह कुएँ की जगत पर जा बैठी थी - कपड़े ही काँच ले, किसी सूरत समय तो बिताना था।

आजकल सुजा के दिन पहाड़ से होते हैं, काटे नहीं कटते... काम करे तो कितना। घर-द्वार आईना बना चमकता है, धोबन सजी ठठोल करती है, बर्तन जीभ से चाटकर साफ करती है कि माँजकर बहूरानी... जी जलकर रह जाता है। गौने के बाद दूल्हा जुम्मा-जुम्मा आठ ही दिन घर में बंधा होगा। प्रेम का ज्वार जैसे हरहराकर चढ़ा था वैसे ही झटपट उतर भी गया था। मन अघाया तो फिर से अपनी पुरानी दिनचर्या में लौट गया। हवस का रिश्ता होता ही ऐसा है। अब रोज तड़के घर से निकलता है और रात गए नशे में धुत लौटता है। बाट जोहती, पल गुनती मोम की गुड़िया जैसे विरह में पिघलकर रह गई है। मन की आस-आह्लाद असमय छीजकर रह गई है। कोयल की कू-कू, फाग, बूँदी-बादर में मन उछाह से भर जाता है, मगर जिसके लिए जोबन का सारा साज-सरंजाम उसी का कहीं पता नहीं होता। रीती आँखों में अब सपने दुखने लगे थे, काजल अहरह लिसरे रहते।

बुढ़िया आजी दबी जुबान कह गई है, पड़ोस के गाँव की किसी बंजारन से टाँका भिड़ा है भतार का। हाय रामजी। अकेली बिस्तर पर पड़ी-पड़ी वह टसुवे बहाती। छज्जे पर पुरवैया डाकिन-चुड़ैल की तरह हू-हू करती फिरती। मेह-हिम का जुल्म अलग लगा रहता... अब तो हिया गलाने की ऊर्जा भी शेष न बची थी। तितली सरीखी सलोनी आँख-पाँख रेत की ढूह बनी सूखी पड़ी थी। अकाल क्या सिर्फ धरती को बंजर बनाता है। कोई सुजा की राख हुई काया को देखे तो बूझे... हरजाई मर्द का दुख हरी-भरी अमराई-सी औरत को बबूल का ढेर बनाकर रख देता है। इस दुख के कारागार से जाने कब मुक्ति मिलेगी... संझौती में टप-टप आँख चुआती वह विरहा गाती। इस विरह में घात का विषबुझा मरन-दंश भी था... अबूझ व्यथा में छाती-आँचर भीजकर रह जाता था।

अपनी दीदे ही बहा देगी क्या? विदाई की बेला बाँह गहते हुए उसकी मीता ने छेड़ा था। काश आज आकर वह इन आँखों की दुर्गति देख जाती। माँ के बाद कोई मायका नहीं बचा, इधर ससुराल में जेठ-देवर की दुश्मनी। जेठानी सुबह-शाम सुना-सुनाकर पूरे कुनबे का श्राद्ध करती है तो देवरानी नित दरवाजे पर बच्चे हगा जाती है। उसका जी हल्कान हुआ रहता है। गाँववाले भी उन्हीं की तरफ। गँजेड़ी मर्द से सभी कन्नी काटते हैं। बीच में रह जाती है वह, बिना कसूर काला-पानी काटती हुई। न पति का प्यार, न सगे संबंधी का साथ। उसकी तो गति ही हो गई। अकेली पड़ी-पड़ी जी अकबकाता है।

कितने दिन हो गए खुलकर हँसे-बोले... पहले जो वह खिलखिलाती थी तो जैसे बतासे बिखर जाते थे। अब तो खुद की शिनाख्त करना भी कठिन लगता है। आरसी में सूरत न जाने किसकी दिखती है। इसी पूनो के चाँद-से रूप पर कभी चार-चार कोस तक बातें होती थीं... पहली रात घूँघट उठाकर राणा टुकुर-टुकुर ताकते रह गए थे। देह पर हाथ फिराते हुए फिर ठट्ठा किया था - तुझे बिलोया तो फिर माखन निकल आएगा, इतनी चिकनी है तू... उसकी तरफ बेहयाई से तकते हुए लोभ उसकी आँखों से माने चुआ जा रहा था। सुनकर उसके गाल बीट सरीखे लाल पड़ गए थे। पति के वे मिसरी-बतासे जैसे बोल, रसपगे सुहाग के दिन, मान-मनुहार... सब कुछ कितना संक्षिप्त निकला। पूस की मायावी धूप की तरह चढ़ते-ही चढ़ते गौरैया से फुर्र। वह अवाक सोचती, वे दिन सच के थे या कोई सपना।

कपड़ों का अंबार धो-काँचकर वह छत पर फैला आई थी। उतरते हुए देवर के आँगन में सहज नजर पड़ी तो देवरानी उसे देखकर देवर से छूटकर आँचल सँभालती हुई भागी। उसके जी में एकदम से हौल उठा था। देवर बेशर्मी से हँसते हुए देवरानी की चोली हवा में लहरा रहा था। उसकी अपनी चोली यकायक छाती पर कस-सी गई थी, साँस लेना भी जैसे दूभर हो रहा हो। धड़धड़ाती हुई सीढ़ियाँ उतरकर वह दो गिलास पानी बिना साँस लिए गटक गई थी। रात के सूने में यही बातें याद आ-आ उसका जी जलाती रहती थीं। नशे में धुत पति बगल में खर्राटे भरता रहता था और करवटों में उसकी सुबह हो जाती थी। न जाने कितनी रातों की जगार आँखों में भरकर वह दिन भर ऊँघती रहती थी। बदन टूटता था, मगर आलस्य से। बड़ी आस से वह बुढ़वा बाबा के मंदिरवाले पीपल पर मन्नत का धागा बाँध आई थी - इस बरस गोद भरे तो निर्जला व्रत रखेगी। अब तो यह धागा भी उसकी उम्मीदों की तरह जर्द पड़ गया था।

आज तो इसने बड़ी देर कर दी... सुबह खाली पेट निकला है... पीली पड़ती धूप की आखिरी रेशों में दालान पर धीरे-धीरे लंबी होती अपनी ही छाया को वह अनमन तकती रहती थी - पता नहीं, कहाँ रह गया... दालान में सूखती बड़ियाँ सहेजकर वह भंडार में रख आई थी। ढिबरी भी जलानी थी। संझाबाती के बाद वह गुमसुम बैठ गई थी - आसमान में टिमटिमाते हुए तारों को तकते हुए। संध्या की गहरी नीली उदासी में मन डूबने लगा था। तुलसी चौरे पर जलते हुए दीये की पीली लौ में दीवार पर न जाने कैसी-कैसी आकृतियाँ बनने-बिगड़ने लगी थीं, जैसे भूत-प्रेतों का छौ नाच लगा हो। नीम के सफेद फूलों, निबौलियों से आँगन पट गया है, कल सुबह उठकर पहले बुहार लेगी... घुटने में थुथनी धंसाते हुए उसने सोचा था। न जाने क्यों मन आज बड़ा अशांत हो रहा है... रह-रह कर बरामदे में पिंजरे का सुग्गा कभी टें-टें करता हुआ अपने पंख

फरफरा रहा है तो कभी चोंच से पिंजरे की सलाखों को काट रहा है। सुजा भूली-भूली सी उसकी तरफ देखती रही थी। साँझ का ललछौंहा आकाश घर लौटते पंछियों की सुनहरी कतार से झिलमिला रहा था। चारों तरफ उन्ही का कचर-मचर मचा था। उनकी आवाज से पिंजरे का मिट्ठू जैसे और अधिक बेचैन होता जा रहा था। सुजा को बरबस अपना गाँव, बचपन, हमजोलियाँ याद आने लगे थे। मन में एक हूँक से उठी थी, वह काँटा बिंधी मछली की तरह कलप उठी थी। और फिर न जाने क्या सोचकर उसने अचानक उठकर पिंजरे का द्वार खोल दिया था...

नीली, मटमैली साँझ डूबती हुई रोशनी में आकाश में पंख फैलाकर क्षितिज की ओर उड़ते हुए पक्षी की सब्ज फरफरहट को वह आस भरी आँखों से तक रही थी। मुक्ति का स्वाद कैसा होता है... घर की गहरी, साँवली दीवारों में प्रायः चुनी-सी उसने सोचने का प्रयत्न किया था। आँखों से बहते हुए पानी का खारापन उसके होंठों से हो कर जैसे अंतर तक रिस आया था। नमक का यही स्वाद रात-दिन उसके हाड़ मज्जे में घुला रहता है। आज इस पिंजरे को खोल कर एक पल के लिए ही सही, उसे लगा था, उसने स्वयं को मुक्त कर लिया है। कंधों पर दो उजले पंख जैसे अनायास उग आए थे... सामने गहरा नीला संभावनाओं का आकाश था और एक पागल उड़ान अंदर ही अंदर कहीं पर तोल रही थी... हवा में उन्माद भर देनेवाला निमंत्रण था, उसके भीतर की जंग खाई सलाखें जैसे यकायक टूटकर बिखर गई थीं। मुक्ति के इस छोटे से तिलस्मी क्षण में न जाने कितनी देर तक आकंठ डूबी वह सुधबुध खोई-सी खड़ी रही थी... उसे समय का ध्यान नहीं रह गया था। बाहर दरवाजे पर खड़ा राणा बड़ी देर से साँकल खटखटाए जा रहा था।